अब दण्डी स्वामीजी के लिए अपने विद्यार्थी ही एक मात्र आशा की किरण थी। जो उनसे अध्ययन करने के बाद आर्ष ग्रन्थों के उद्धार एवं प्रचार-प्रसार के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर सकें मगर वर्तमान् शिष्यों में पूर्ण समग्रता के साथ आर्ष-ज्ञान को आत्मसात् करने की सामर्थ्य उन्हें नहीं दिखाई दे रही थी। परमात्मा की अपार कृपा से एक त्यागी, तपस्वी, आदित्य ब्रह्मचारी, प्रभु भक्त, अलौकिक एवं विलक्षण विद्यार्थी ने 14 नवम्बर 1860 को गुरू विरजानन्द जी की कुटिया का दरवाजा खटखटाया। गुरू-शिष्य की यह भेंट आर्यावर्त के लिए ही नहीं बल्कि समूचे विश्व के लिए एक वरदान सिद्ध हुई। महर्षि दयानन्द जी स्वनाम-धन्य गुरू विरजानन्द जी का सान्निध्य पाकर तथा दण्डी स्वामी जी अति प्रतिभाशाली विलक्षण शिष्य दयानन्द को पाकर कृत-कृत्य हो गए। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी बचपन से ही बहुत प्रतिभाशाली तथा जिज्ञासु भावना से ओत-प्रोत थे। जो बात मन में ठान लेते थे उसे पूरा करने के लिए पूर्ण श्रद्धा एवं समर्पण के साथ कटिबद्ध हो जाते थे। शिव-मन्दिर की घटना से उनके हृदय में सच्चे शिव को प्राप्त करने की तथा बहिन और चाचा की मृत्यु से मृत्युजंयी बनने का जो संकल्प हृदय में पैदा हुआ उसे पूरा करने के लिए जब वे कटिबद्ध हो गए तो संसार की कोई शक्ति उन्हें रोक नहीं सकी। वैराग्य के भाव चरम-सीमा पर पहुँचे और उन्होंने गृह-त्याग कर दिया। एक बार घर से निकले तो फिर वापस नहीं लौटे। इन घटनाओं से उन्हें जो बोध हुआ उसे प्रतिबोध में परिवर्तित करके ही जीवन को सफलता प्रदान की। योग की शिक्षा प्राप्त करने के लिए उन्होनें सुदूर प्रदेशों के पर्वत शिखरों तथा नदियों का परिभ्रमण किया तथा प्रबुद्ध एवं स्वयं-सिद्ध योगियों से योग-विद्या को प्राप्त किया परन्तु ज्ञान-पिपासा शान्त नहीं हुई।